भारतीय अर्थतंत्र का दलित परिप्रेक्ष्य

ए.पी. तिवारी

भारतीय अर्थतंत्र का स्वरूप मूलत: प्रजातांत्रिक है जिसकी आधारभूत आर्थिक इकाइयां हैं—उपभोक्ता, उत्पादक, सरकार एवं नौकरशाही। इन आर्थिक इकाइयों के मूल उद्देश्य क्रमश: अधिकतम संतुष्टि, अधिकतम लाभ, अधिकतम वोट एवं अधिकतम बजट है। इस प्रकार इन आधारभूत इकाइयों द्वारा संपादित विकास का जो मॉडल लागू किया गया है वह अल्प आबादी के हितों का पोषक रहा है। भारत में 150 मिलियन से अधिक दलितों की आबादी के हितों की व्यापक तौर पर उपेक्षा हुई है। इसी संदर्भ में प्रस्तुत लेख में भारतीय अर्थतंत्र के दलित परिप्रेक्ष्य को परीक्षित करने का प्रयास किया गया है।

औपनिवेशिक काल में भारतीय सम्भ्रांत वर्ग ने एक ऐसे हिंदुवाद को पनपाया जिसने भारतीय पहचान एवं भारतीय इतिहास की इस प्रकार से पुनर्व्याख्या की जिसमें निम्न जातियों, महिलाओं, आदिवासियों एवं अन्य दलितों को एक ऐसे राष्ट्रीय समूह में समावेशित किया जिसका केंद्रबिंदु वैदिक, आर्य एवं ब्राह्मणवादी परंपरा से ग्रहण किया गया था। चाहे वे तिलक और गणपति पर्व रहे हों, विवेकानंद एवं रामकृष्ण अथवा दयानंद और आर्य समाज, इस परंपरा के मानस को परिभाषित करने हेतु व्यापक रूप से उच्च जाति के प्रतीकों का प्रयोग किया गया। यहां तक कि जब हिंदू सिद्धांतवादियों ने यह तर्क देना प्रारंभ कर दिया था कि आर्य इसी उपमहाद्वीप में उद्भूत हुए, आर्यों को एक केंद्रीय समूह के रूप में व्यवहृत करने की धारणा

को जारी रखा गया। भारतीय समाज को पुनर्गठित करने के उनके तथा धर्मनिरपेक्षतावादी यथा नेहरू अथवा यहां तक कि आम्बेडकर को भी चौंकाने वाली समानताएं रही हैं। गांधी जी ने 'रामराज' सरीखी भावोत्तेजक शब्दावली का प्रयोग करते हुए अपने को इसी परंपरा में पुर्नव्यवस्थित अभिव्यक्त किया, यद्यपि इसके केन्द्रबिन्दु के रूप में अहिंसा एवं सत्य को स्वीकारते हुए इस हिंदूवादी परंपरा की पुनर्व्याख्या की। साथ ही गांधी जी ने ग्राम स्वराज, विकेन्द्रित एवं ग्राम केंद्रित आत्मनिर्भरता की धारणा का विकास करते हुए विकास के विभिन्न पथों को सुझाया। किंतु वे रामराज एवं हिंदू-वेदांती प्रयोगों की विरोधी विचारधारा से इस प्रकार सम्मोहित रूप से अंतर्संबंधित थे कि वे अविकसित एवं उन्हीं तरह उन लोगों द्वारा स्वीकार्य नहीं थे जो लोगों को औपनिवेशिक व्यवस्था द्वारा प्रेरित गरीबी के चंगुल से बाहर निकालने की युक्तियुक्तता एवं आवश्यकता से संबंधित रहे हैं। अंततः गांधी स्वयं उन लोगों के शिकार हुए जो गांधी को भारत के विभाजन के लिए उत्तरदायी मानते थे और इसी से वे उन पर क्रोधोन्मत्त थे। विडंबना यह है कि समकालिक संशोधनशील ऐतिहासिक विद्वता कांग्रेस नेतृत्व द्वारा विभाजन के स्वरूप पर बल दे रहे हैं, क्योंकि समाकलित भारत विकेन्द्रित एवं सीमित होता जिसमें मुस्लिम बहुल्य क्षेत्रों को अनेक रियायतें देनी पड़ती और विभाजित भारत ही एक केंद्रित व्यवस्था प्रदान करा सकता था—जिसकी वे मांग कर रहे थे।

सम्पूर्ण औपनिवेशिक काल के दौरान ऐसी शक्तियां अस्तित्व में थीं जो भारतीय समाज एवं इतिहास की हिंदू बहुल व्याख्या का प्रतिकार करती रहीं और यह प्रतिकार मुस्लिम समस्या से पूर्वाग्रहित एवं पूर्व-निर्धारित रहा है। इस बात की सुस्पष्ट झलक ज्योतिबा फुले के कार्यों में मिलती है। किंतु ये शक्तियां बिखरी हुई एवं कमजोर रहीं। साम्यवादी, जो बुर्जुआ कांग्रेस के विपक्षी वर्ग होने का दावा करते रहे उसके समक्ष जन-सामर्थ्य के स्तर पर कोई गंभीर चुनौती नहीं प्रस्तुत कर सके। बीस के दशक में दलित आंदोलन ने प्रभुत्वपूर्ण संभ्रांत वर्ग के समक्ष सांस्कृतिक एवं आर्थिक चुनौती प्रस्तुत की।

अस्सी के दशक में उभरते हुए दलित राजनीतिक संगठनों ने इस बात को उजागर करने का प्रयास किया है कि वे सामाजिक शक्तियां जिनमें बहुमत जातियों एवं वर्गों का वर्चस्व रहा है, दलित हितों को नजरअंदाज करती रही हैं और दलितों का सही अर्थों में हित-पोषण उनके अपने स्तर के सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों द्वारा ही संभव है। वस्तुतः दलित राजनीति उस पचास वर्षों के प्रयोग की आलोचना पर आधारित है जो दलितों को समतावान बनाने में विफल रहा है। भारतीय संविधान ने दलितों को वोट देने, चुनाव लड़ने एवं सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला को चुनौती देने का अधिकार प्रदान किया है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि नियोजित विकास का लाभ वांछित रूप से दलितों तक रिस नहीं पाया है।

भारतीय प्रजातंत्र में दलितों के सशक्तीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन देश के प्रमुख राजनीतिक दलों की भूमिका के सर्वेक्षण द्वारा किया जा सकता है। लोकसभा के 1952, 1957 एवं 1962 के चुनाव में सभी कोटियों के मतदाताओं द्वारा सापेक्षतया कम प्रतिभागिता पाई गई। किंतु 1967 के लोकसभा चुनाव के उपरांत विभिन्न सामाजिक समूहों, जिनमें दलित भी सम्मिलित हैं, द्वारा सक्रिय भाग लिया गया। दलितों की बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना की पहचान हो गई थी। भारतीय राजनीति के एजेंडा को निर्धारित करने में दलित महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। पचास साठ के दशकों में राजनीतिक दलों द्वारा दलितों को 'वोट बैंक' के रूप में व्यवहृत किया गया—उन्हें निष्क्रिय मतदाताओं के तौर पर लामबंद किया गया। किंतु सत्तर एवं अस्सी के दशकों में दलित मतदाताओं की निर्वाचकता भागीदारी हो गई और वे प्रजातांत्रिक, राजनीतिक प्रतियोगिता में सक्रिय रूप से समावेशित हो गए।

देश के 150 मिलियन से अधिक अछूत, जो अपने को दलित कहने को तरजीह देते हैं, जागृत हो रहे हैं और उन्होंने बदलते हुए सामाजार्थिक परिवेश में शोषण, अत्याचार एवं संस्थागत विषमताओं के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिकार करना आरंभ कर दिया है। दलित एक ऐसी सामाजिक क्रांति की अपेक्षा रहे हैं जो 2500 वर्ष पुरानी हिंदू जाति व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहती है—वे उन हिंदू सिद्धांतों की धज्जियां उड़ाने के लिए कटिबद्ध दिखने लगे हैं जिनसे जाति के आधार पर श्रम विभाजन एवं व्यक्ति की स्थिति या प्रतिष्ठा निर्धारित होती रही है। उच्च जातियों के दबदबे वाली राजनीतिक सत्ता के पैर पिछले कई दशकों से लड़खड़ाने लगे हैं और सत्ता फिसलकर निम्न जातियों एवं अंततः दलितों के स्तर पर केंद्रित होना आरंभ हो चुकी है।

दलितों की आबादी भारत की आबादी की एक छठी है, किंतु अभी तक कुछ ही दलित राजनेताओं, वकीलों एवं वैज्ञानिकों के

रूप में समाज के उच्च स्थानों पर पदासीन होने में सफल हो सके हैं। धर्म-स्वीकृति के चलते दलित-शोषित मुस्लिम आक्रमणों, ब्रिटिश औपनिवेशवाद के दौरान और यहां तक कि आजादी के पचास वर्ष बाद भी एक कठिन जीवनयापन के लिए विवश रहा है। अभी भी भारत के अनेक गांव में दलित गरीबी एवं दासता में रहते हैं, किंतु अब दलितों के धैर्य की सीमा टूटती नजर आ रही है। उल्लेखनीय है कि दलितोद्धार इस सदी में आरंभ हुआ एवं उसमें गांधी एवं अंबेडकर का महान योगदान रहा है। भारतीय संविधान के लेखक के रूप में अंबेडकर ने दलितों के विकास की संवैधानिक गारंटी सुनिश्चित कर दी थी। फिर भी, दशकों तक सवर्णों द्वारा प्रभुतापूर्ण नौकरशाही इस गारंटी को मूर्त रूप देने में बाधक रही है। किंतु नौकरशाही में दलितों की जिस नई पीढ़ी ने प्रवेश पा लिया है वह समाजार्थिक दृष्टि से शोषितों एवं कुपोषितों का हित-पोषण करने में उपकरणात्मक भूमिका निभा रही है।

जाति पर आधारित अर्थतंत्र में श्रम-विभाजन अन्यायपूर्ण एवं शोषणकारी रहा है। अंबेडकर जाति-पिरामिड को प्रजातंत्र के माध्यम से नष्ट करना चाहते थे, किंतु स्वाधीन भारत में इस पहलू पर प्रगति धीमी रही है। दलितों की स्थिति गांव में इतनी बुरी है कि वे एक सुरक्षित एवं सम्मानजनक जीवनयापन के लिए अधीर हैं और इस प्रवृत्ति ने उनमें संगठनात्मक भावना को बलवती बनाने का काम किया है, फिर भी दलित राजनीतिक तौर पर व्यापक रूप में बिखरा हुआ है। शिक्षा एवं वोट उनके अस्त्र हैं किंतु अभी भी वे मूलतः निस्तेज पड़े हैं। यही नहीं दलित नेतृत्व में भी एक प्रकार का संभ्रांत वर्ग जनमा है जो बहुल दलित आबादी के मूल हितार्थों से विलग दिखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दलितों के आर्थिक सामर्थ्यकरण की आवश्यकता दलित विकास की पूर्वापेक्षी शर्त है और इस कार्य के संपादन में उनकी राजनीतिक लामबंदी एवं समान प्रतिभागिता उपकरणात्मक भूमिका निभा सकती है। नियपद आवश्यकता इस बात की है कि दलितों के आर्थिक हितों एवं उनकी आवश्यकताओं को अच्छी तरह अभिज्ञानित करते हुए तद्नुरूप विकास रणनीतियां प्रतिपादित एवं कार्यान्वित की जाएं।

यहां पर इस बात पर बल देना प्रासंगिक होगा कि भारतीय प्रजातंत्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि जिन दलित समूहों में राजनीतिक चेतना जगी है, वे सक्रिय हो उठे हैं तथा अपने अधिकारों की मांग करने लगे हैं। एक रूचिकर बात यह है कि नवदलित सामर्थ्यकरण ने सार्वजनिक एवं सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों पर 'दलित संभ्रांत वर्ग' को जन्म दिया है। अस्सी के दशक के दौरान इस दलित संभ्रांत वर्ग ने स्वायत्त दलित संघर्षों एवं राजनीतिक दलों का आरंभ किया। इस दलित संभ्रांत वर्ग ने अपनी शक्ति नई दलित पहचान बनाने में, ऐसे सांस्कृतिक प्रतीकों के पुर्नस्थापन पर लगा दी, जो पूरी तरह दलितों से जुड़े हैं। गौतम बुद्ध, वाल्मीकि, रविदास और इसी प्रकार अन्य लोगों को पृथकतः दलित संदर्भ बिंदुओं के रूप में प्रक्षेपित किया गया। अस्सी के दशक में अंबेडकर के विचारों का पुनर्अभ्युदय हुआ और अंबेडकर के फैलाव द्वारा दलित अंतर्मन से गांधी एवं नेहरू को विस्थापित करने का प्रभावी प्रयास किया गया। उल्लेखनीय है कि अंबेडकरवाद की आर्थिक आधारशिला सशक्त है तथा भारत के लिए उनके आर्थिक विचार एवं नीति-सुझाव बदलते हुए आर्थिक परिवेश एवं संकटग्रस्त अर्थतंत्र में अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी हैं।

भारतीय अर्थतंत्र में सभी राजनीतिक दल दलितों को अपनी ओर रिझाने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी अर्थतंत्र के उच्चस्थ प्रबंधकों से दलितों की विशाल अपेक्षाएं स्वाभाविक हैं और वे उनके दशकों एवं सदियों से अवदमित एवं अवगुंठित इच्छाओं को प्रतिबिंबित करती हैं। कुल मिलाकर, यह कहना अधिक प्रासंगिक होगा कि भारतीय अर्थतंत्र में दलितों के समाजार्थिक हितार्थों के प्रति उसके नियंताओं ने छल-कपटी व्यवहार किया है। यह भी निरापदेन तार्किक है कि दलित विकास को विखंडित रूप से संचालित करना एक बड़ी भूल है—जिसकी प्रभावोत्पादकता परिसीमित होकर अर्थतंत्र में ऐसी ऐंठनें डाल देंगी जिनसे 'समता एवं वितरणात्मक न्याय के साथ विकास' के लक्ष्य को प्राप्त करने में संरचनात्मक कठिनाइयां आएंगी। दलित विकास की किसी सुविचारित रणनीति में गैर-दलित वर्ग के समाजार्थिक दृष्टि से विपन्न लोगों की स्थिति पर एक समेकित दृष्टिपात करते हुए एक विकास का 'बहुजन माडल' लागू करने के लिए निर्धनों, बेकारों, शोषितों, कामगारों, महिलाओं एवं सत्ता-पीड़ित लोगों को व्यापक रूप से लामबंद करना होगा अन्यथा दलित नेतृत्व एक कुहासजन्य परिस्थिति में हाथ-पैर मारता रह जाएगा।